गायत्री मंत्र के म अक्षर की व्याख्या

ईश्वरीय न्याय

श्रीराम शर्मा आचार्य

ईश्वरीय न्याय

गायत्री का पन्द्रहवाँ अक्षर 'म' हमको ईश्वरीय आदेशों के अनुकूल चलने की शिक्षा देता है—

महेश्वरस्य विज्ञाय नियमां न्यायः संयुतान् ।
तस्य सत्तांच स्वीकुर्वन कर्मणा तमुपासते ।।

अर्थात्—"परमात्मा की सत्ता और उसके न्याय पूर्ण नियमों को समझ कर ईश्वर की उपासना करनी चाहिए ।"

ईश्वर सर्वव्यापक, दयालु, सच्चिदानंद, जगतपिता, न्यायकारी आदि अनेकों महिमाओं से युक्त हैं । उनका ध्यान रखने से मुनष्य का बुराइयों से बचना और दूसरों के साथ सद्व्यवहार करना अधिक संभव है । इसलिए ईश्वर में और उसके न्याय में विश्वास रखना मनुष्य और समाज के लिए परम कल्याणकारी है । ईश्वर की उपासना से मनुष्य का आत्मिक बल बढ़ता है और आत्मिक बल द्वारा नाना प्रकार के भौतिक सुख और आनन्द प्राप्त होते हैं ।

पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ईश्वरीय नियम अटल, अचल होते हैं और जो उनका उल्लंघन करता है उसे घोर दुष्परिणाम भोगना पड़ता है । संसार में अधिकांश लोग मुख से इस बात को कहते हुए भी दिल से इस बात पर दृढ़ विश्वास नहीं रखते और तरह—तरह के पाप कर्मों में लीन हो जाते हैं । इसीलिए अनगिनती लोग कष्ट भोगते दिखाई पड़ते हैं । परमात्मा और आत्मा का संबंध ठीक एक तराजू की तरह है । इसका एक पलड़ा न्याय का है और दूसरा नियम का । जीव जितना ही ईश्वर नियमों पर चलता है अथवा उन्हें तोड़ता है, उतनी ही तोल के अनुसार उसे अच्छा या बुरा कर्मफल मिलता है । जो लोग इस तत्व पर ध्यान न देकर संसार में अंधेर का बोलवाला समझते हैं और तदनुसार मनमाना आचरण करते हैं, वे ही घोर दुःखों में फँस कर अपने जीवन को नष्ट कर डालते हैं ।

कर्म-फल कैसे मिलता है

शास्त्रकारों ने बतलाया है कि हनन की हुई आत्मा नरक को ले जाती है और सन्तुष्ट हुई आत्मा दिव्य लोक प्रदान करती है । इस कथन ने इस गुत्थी को सुलझा दिया है कि स्वर्ग-नरक किस प्रकार मिलते हैं ? गरुण पुराण में इस संबंध में एक अलंकारिक विवरण दिया गया है, जिसमें कहा गया है कि यमलोक में 'चित्रगुप्त' नामक देवता हर एक जीव के भले-बुरे कर्मों का विवरण प्रत्येक समय लिखते रहते हैं । जब प्राणी मर कर यमलोक में जाता है तो वह लेखा पेश किया जाता है और उसी के आधार पर शुभ कर्मों के लिए स्वर्ग और दुष्कर्मों के लिए नरक प्रदान किया जाता है । साधारण दृष्टि से चित्रगुप्त का अस्तित्व काल्पनिक प्रतीत होता है, क्योंकि असंख्य प्राणियों द्वारा पल-पल पर किए जाने वाले कार्यों का लेखा दिन-रात बिना विश्राम के कल्प-कल्पान्तों तक लिखते रहना एक देवता के लिए कठिन है ।

पर आधुनिक शोधों ने उपरोक्त अलंकारिक कथानक में से बड़ी ही महत्वपूर्ण सचाई को खोज निकाला है, डाक्टर फ्राइड ने मनुष्य की मानसिक रचना का वर्णन करते हुए बताया है कि जो भी भले या बुरे काम ज्ञानवान् प्राणियों द्वारा किए जाते हैं, उनका सूक्ष्म चित्रण अन्तःचेतना में होता रहता है, ग्रामोफोन के रिकार्डों में रेखा रूप में गाने भर दिये जाते हैं । संगीत शाला में नाच, गान हो रहा है और साथ ही अनेक बाजे बज रहे हैं, इन अनेक प्रकार की ध्वनियों का विद्युत शक्ति का एक प्रकार का संक्षिप्त एवं सूक्ष्म एकीकरण होता है और वह रिकार्ड में जरा-सी जगह में रेखाओं की तरह अंकित होता जाता है । तैयार किया हुआ रिकार्ड रखा रहता है, वह तुरन्त ही अपने आप या चाहे जब नहीं बजने लगता, वरन् तभी उन संग्रहीत ध्वनियों को प्रकट करता है, जब ग्रामोफोन की मशीन पर उसे घुमाया जाता है और सुई की रगड़ उन रेखाओं से होती है । ठीक इसी प्रकार भले और बुरे जो भी काम किए जाते हैं, उनकी सूक्ष्म रेखाएँ अन्तःचेतना के ऊपर अंकित होती रहती हैं और मन के भीतरी कोने में जमा हो जाती हैं । जब रिकार्ड पर सुई का आघात लगता है, तो उसमें भरे हुए गाने प्रकट होते हैं, इसी प्रकार गुप्त मन में जमा हुई रेखाएँ किसी उपयुक्त अवसर का आघात लगने पर

ही प्रकट होती हैं । भारतीय विद्वान् 'कर्मरेखा' के बारे में बहुत प्राचीन काल से जानकारी रखते आ रहे हैं । 'कर्म रेख नहीं मिटे, करो कोई लाखों चतुराई' आदि अनेक युक्तियाँ हिन्दी और संस्कृत साहित्य में मौजूद हैं, जिनसे प्रकट होता है कि कर्मों की कोई रेखाएँ होती हैं, जो अपना फल दिये बिना मिटती नहीं । भाग्य के बारे मोटे तौर पर ऐसा समझा जाता है कि सिर की अगली मस्तक वाली हड्डी पर कुछ रेखाएँ ब्रह्मा लिख देता है 'विधि का लिखा को मेंटन हारा' उन्हें मिटाने वाला कोई नहीं है । डाक्टर बीबेन्स ने मस्तिष्क में भरे हुए ग्रे मैटर (भूरा चर्बी जैसा पदार्थ) की सूक्ष्म दर्शक यंत्रों की सहायता से खोज करने पर वहाँ के एक-एक परमाणु में अगणित रेखाएँ पाई हैं । यह रेखाएँ किस प्रकार बनती हैं इसका कोई शारीरिक प्रत्यक्ष कारण उन्हें नहीं मिला । तब उन्होंने अनेक मस्तिष्कों के परमाणुओं का मुकाबिला करके यह निष्कर्ष निकाला कि निष्क्रिय, आलसी एवं विचार शून्य प्राणियों में यह रेखाएँ बहुत कम बनती हैं, किन्तु कर्मनिष्ठ एवं विचारवानों में इनकी संख्या बहुत बड़ी होती है । अतएव यह रेखाएँ शारीरिक और मानसिक कार्यों को संक्षिप्त और सूक्ष्म रूप से लिपिबद्ध करने वाली प्रामाणित हुईं ।

भले-बुरे कार्यों का 'ग्रे मैटर' के परमाणुओं पर यह रेखांकन (जिसे शास्त्र शब्दों में अन्तःचेतना का संस्कार कहा जा सकता है) पौराणिक चित्रगुप्त की वास्तविकता को सिद्ध कर देता है । चित्र गुप्त शब्द के अर्थों से भी इसी प्रकार की ध्वनि निकलती है । गुप्त चित्र, गुप्त मन अन्तःचेतना, सूक्ष्म मन, पिछला दिमाग, भीतर चित्र, इन शब्दों के भावार्थ को ही 'चित्र गुप्त' शब्द प्रकट करता हुआ दीखता है ।

यह चित्र गुप्त निस्सन्देह हर प्राणी के हर एक कार्य को हर समय बिना विश्राम किए, अपनी बही में लिखता रहता है । सब का अलग-अलग चित्र गुप्त है, जितने प्राणी हैं, उतने ही चित्र गुप्त हैं । इसलिए यह सन्देह नहीं रह जाता कि इतना लेखन कार्य किस प्रकार पूरा हो पाता होगा । स्थूल शरीर के कार्यों की सुव्यवस्थित जानकारी सूक्ष्म चेतना में अंकित होती रहे तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है । 'पौराणिक चित्र गुप्त एक है और यहाँ अनेक हुए' यह शंका भी कुछ

गहरी नहीं है । दिव्य शक्तियाँ व्यापक होती हैं । पाठक जानते हैं कि प्राण तत्व एक है, उसके अंश विभिन्न व्यक्तियों में दृष्टिगोचर होते हैं । आत्मा और परमात्मा में व्यष्टि और समष्टि का भी भेद है, बाकी दोनों पदार्थ एक ही हैं । जैसे बगीचे की वायु, गन्दे नाले की वायु आदि स्थान भेद से अनेक नाम वाली होते हुए भी मूलतः विश्व व्यापक वायुतत्व एक ही है, वैसे ही अलग-अलग शरीरों में रहकर अलग-अलग काम करने वाला चित्र गुप्त देवता भी एक ही तत्व है ।

पिछली पंक्तियों में पाठक पढ़ चुके हैं कि हमारा गुप्त चित्र-अन्तर्मन ही निरन्तर चित्रगुप्त देवता का काम करता है । जो कुछ भले या बुरे काम हम करते हैं उनका सूक्ष्म चित्र उतार-उतार कर अपने भीतर जमा करता रहता है । सिनेमा के पर्दे पर मनुष्य की बराबर लम्बी-चौड़ी तस्वीर दिखाई देती है । पर उसका फिल्म केवल एक इन्च चौड़ा ही होता है । इसी प्रकार पाप-पुण्य का घटनाक्रम तो विस्तृत होता है पर उसका सूक्ष्म चित्र एक पतली रेखा मात्र के भीतर खिंच जाता है और वह रेखा गुप्त मन के किसी परमाणु पर अदृश्य रूप से जमकर बैठ जाती है । शार्ट हैण्ड लिखने वाले बड़ी बात को थोड़ी-सी उल्टी-सीधी लकीरों के इशारे से जरा से कागज पर लिख देते हैं । कर्म रेखा को भी ऐसी ही दैवी शार्ट हैण्ड समझा जा सकता है ।

पाठकों को इतनी जानकारी तो बहुत पहले हो चुकी होगी कि मन के दो भाग हैं-एक बहिर्मन, दूसरा अन्तर्मन । बाहरी मन तो तर्क-वितर्क करता है, सोचता है, काट-छांट करता है और अपने इरादों को बदलता रहता है, पर अन्तर्मन भोले-भाले किन्तु दृढ़ निश्चयी बालक के समान है । वह काट-छांट नहीं करता वरन् श्रद्धा और विश्वास के आधार पर काम करता है । बाहरी मन तो यह सोच सकता है कि पाप कर्मों की रेखाएँ अपने ऊपर अंकित न होने दूँ और पुण्य कर्मों को बढ़ा-चढ़ाकर अंकित करूँ, जिससे पाप-फल न भोगना पड़े और पुण्य फल का भरपूर आनन्द प्राप्त हो । परन्तु भीतरी मन ऐसा नहीं है । वह सत्यनिष्ठ जज की तरह फैसला करता है, कोई लोभ, लालच, भय, स्वार्थ उसे प्रभावित नहीं करता । कहा जाता है कि मनुष्य के अन्दर एक ईश्वरीय शक्ति रहती है, दूसरी शैतानी । आप गुप्त मन को ईश्वरीय शक्ति और तर्क, छल, कपट, स्वार्थ, लोभ में रत रहने वाले

बाह्य मन को शैतानी शक्ति कह सकते हैं । बाहरी मन धोखेबाजी कर सकता है, परन्तु भीतरी मन तो सत्य रूपी आत्मा का तेज है । वह न तो मायावी आचरण करता है, न छल-कपट । निष्पक्ष रहना उसका स्वभाव है । इसलिए ईश्वर ने उसे इतना महत्वपूर्ण कार्य सौंपा है । दुनियाँ उसे चित्र गुप्त देवता कहती है । यदि यह भी पक्षपात करता तो भला इतनी ऊँची पदवी कैसे पा सकता था ? हमारा चित्रगुप्त मन खुफिया जासूस की तरह हर घड़ी साथ-साथ रहता है और जो-जो भले-बुरे काम किये जाते हैं उनका ऐमालनामा अपनी खुफिया डायरी में दर्ज करता रहता है ।

भीतरी दुनियाँ में गुप्त-चित्र, या चित्रगुप्त पुलिस और अदालत दोनों महकमों का काम स्वयं ही करता है । बाहरी दुनियाँ में तो यदि पुलिस झूँठा सबूत दे दे तो अदालत का फैसला भी अनुचित हो सकता है, परन्तु भीतरी दुनियाँ में ऐसी गड़बड़ी की संभावना नहीं । अन्तःकरण सब कुछ जानता है कि यह कर्म किस विचार से, किस इच्छा से, किस परिस्थिति में, क्यों कर किया गया था । वहाँ बाहरी मन को सफाई या बयान देने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि गुप्त मन उस बात के संबंध में स्वयं ही पूरी-पूरी जानकारी रखता है । हम जिस इच्छा से, जिस भावना से जो काम करते हैं उस इच्छा या भावना से ही पाप-पुण्य का नाप होता है । भौतिक वस्तुओं की तौल-नाप बाहरी दुनियाँ में होती है । एक गरीब आदमी दो पैसा दान करता है और एक धनी आदमी दस हजार रुपया दान करता है । बाहरी दुनियाँ तो पुण्य की तौल रुपये-पैसों की गिनती के अनुसार करेगी । दो पैसा दान करने वाले की ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखेगा, पर दस हजार रुपया देने वाले की प्रशंसा चारों ओर फैल जायेगी । भीतरी दुनियाँ में यह तौल-नाप नहीं चलती । बाहर की दुनियाँ में रुपयों की गिनती से, काम के बाहरी फैलाव से, कथा-वार्ता से, तीर्थयात्रा आदि भौतिक चीजों से यश खरीदा जाता है, पर चित्र गुप्त देवता के देश में यह सिक्का ही नहीं चलता, वहाँ तो इच्छा और भावना की नाप-तौल है । उसी के मुताबिक पाप-पुण्य का जमा-खर्च किया जाता है । भगवान कृष्ण ने अर्जुन को उकसा कर लाखों आदमियों को महाभारत के युद्ध में मरवा डाला । लाशों से भूमि पट गई, खून की नदियाँ बह गईं फिर भी अर्जुन को कोई पाप नहीं लगा ।

अर्जुन का उद्देश्य पवित्र था, वह पाप को नष्ट करके धर्म की स्थापना करना चाहता था । बस वही इच्छा खुफिया रजिस्टर में दर्ज हो गई आदमियों के मरने जीने की संख्या का कोई हिसाब नहीं लिखा गया । दुनियाँ में करोड़पति की बड़ी प्रतिष्ठा है, पर यदि उसका दिल खोटा है तो चित्रगुप्त के दरबार में भिखमंगा शुमार किया जायगा । दुनियाँ का भिखमंगा यदि दिल का धनी है तो उसे बादशाह गिना जायगा । इस प्रकार मनुष्य जो भी काम कर रहा है वह किस नीयत से कर रहा है, वह नीयत, भलाई या बुराई, जिस दर्जे में जाती होगी उसी में दर्ज कर ली जायगी । सद्भाव से फाँसी लगाने वाला एक जल्लाद भी पुण्यात्मा गिना जा सकता है और एक धर्मध्वजी तिलकधारी पण्डित भी गुप्त रूप से दुराचार करने पर पापी माना जा सकता है । बाहरी आडम्बर का कुछ मूल्य नहीं है, कीमत भीतरी चीज की है । सीप की कुछ कीमत नहीं, मोल-तोल तो मोती का है । बाहर से कोई काम भला या बुरा दिखाई दे, तो उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । असली तत्व तो उस इच्छा और भावना में है, जिससे प्रेरित होकर वह काम किया गया है । पाप-पुण्य की जड़ कार्य और प्रदर्शन में नहीं, वरन् निश्चित रूप से इच्छा और भावना में ही है ।

उपरोक्त पंक्तियों में बताया गया है कि हमारे प्राणों के साथ घुलमिल कर रहने वाला चित्रगुप्त देवता किसी पक्षपात के बुरे-भले कर्मों का लेखा अन्तःचेतना के परमाणुओं पर लिखा करता है, उस अदृश्य लिपि को बोलचाल की भाषा में कर्म रेखा कहते हैं । साथ ही यह भी बताया जा चुका है कि पाप-पुण्य का निर्णय काम के बाहरी रूप से नहीं वरन् कर्त्ता की इच्छा और भावना के अनुरूप होता है । यह इच्छा जितनी तीव्र होगी उतना ही पाप-पुण्य भी अधिक एवं बलवान होगा । जैसे एक व्यक्ति उदास मन से किसी रोगी की सेवा करता है और दूसरा व्यक्ति दूसरे रोगी की सेवा अत्यन्त दया, सहानुभूति, उदारता एवं प्रेमपूर्वक करता है, तो बाहर से देखने में दोनों के काम एक समान भले ही हों, पर उस पुण्य का परिणाम भावना की उदासीनता एवं प्रेम तत्परता के अनुसार न्यूनाधिक होगा । इसी प्रकार एक भूखा व्यक्ति लाचार होकर चोरी करता है, दूसरा व्यक्ति मद्यपान के लिए चोरी करता है तो दोनों के पाप में निस्सन्देह न्यूनाधिकता होगी । चोरी दोनों ने की है पर दुष्टता में

न्यूनाधिकता के कारण पाप भी उसी अनुपात से होगा ।

इस सम्बन्ध में एक और भी महत्वपूर्ण बात जान लेने की है कि हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग कानून व्यवस्था है । रिश्वत के मामले में एक चपरासी, एक क्लर्क, एक मजिस्ट्रेट तीन आदमी पकड़े जायें, तो तीनों को अलग-अलग प्रकार की सजा मिलेगी । सम्भव है चपरासी को डाट-डपट सुना कर ही छुटकारा मिल जाय पर मजिस्ट्रेट बर्खास्त हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि उसकी बड़ी जिम्मेदारी है । एक असभ्य भील, शिकार मारकर पेट पालता है, अपराध उसका भी है, परन्तु अहिंसा का उपदेश करने वाला पण्डित यदि चुपचाप बूचर की दुकान में जाता है, तो पण्डित को उस भील की अपेक्षा अनेक गुना पाप लगेगा । कारण यह है कि ज्ञान वृद्धि करता हुआ जीव जैसे-जैसे आगे बढ़ता चलता है वैसे-वैसे ही उसकी अन्तःचेतना अधिक स्वच्छ हो जाती है । मैले कपड़े पर थोड़ी-सी धूल पड़ जाय तो उसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु दूध के समान स्वच्छ धुले हुए कपड़े पर जरा-सा धब्बा लग जाय, तो वह दूर से ही चमकता है और बहुत बुरा मालूम पड़ता है ।

इसी प्रकार अशिक्षित, अज्ञानी, असभ्य व्यक्तियों को कम पाप लगता है । ज्ञान वृद्धि के साथ-साथ भला-बुरा समझने की योग्यता बढ़ती जाती है; सत् असत् का, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक प्रबल होता जाता है, अन्तःकरण की पुकार जोरदार बनती है, इस प्रकार आत्मोन्नति के साथ-साथ सदाचरण की जिम्मेदारी भी बढ़ती जाती है । हुकुमउदूली करने पर मामूली चपरासी को दो रुपया जुर्माना हो जाता है, परन्तु फौजी अफसर हुकमउदूली करे तो कोर्ट मार्शल द्वारा गोली से उड़ा दिया जायगा । ज्ञानवान, विचारवान और भावनाशील हृदय वाले व्यक्ति जब दुष्कर्म करते हैं तो उनका चित्रगुप्त उस करतूत को बहुत भारी पाप की श्रेणी में दर्ज कर देता है । अज्ञानी व्यक्ति अपराध करे तो यह उतना महत्व नहीं रखता, किन्तु कर्तव्यच्युत ब्राह्मण तो घोर दण्ड का भागी बनता है । राजा बनना सब दृष्टियों में अच्छा है, पर राजा की जुम्मेदारी भी सबसे ऊँची है । ज्ञानवानों का यह कठोर उत्तरदायित्व है कि सदाचार पर दृढ़ रहें, अन्यथा सात मञ्जिल ऊँची छत पर से गिरने वाले को जो कष्ट होता है, उन्हें भी वही दुःख होगा ।

सुख-दुःख का उत्तरदायित्व

संसार में अनेक बार ऐसी घटनाएँ होती दिखलाई पड़ती हैं, जो ईश्वरीय न्याय के बिल्कुल विपरीत जान पड़ती हैं । एक सज्जन व्यक्ति दरिद्रता का जीवन बिता रहा है और दूसरा प्रसिद्ध कुकर्मी मौज कर रहा है । परिश्रम करने वाला सीधा-सादा किसान, टोकरी ढोने वाला मजदूर ठोकरें खाता फिरता है और दिन भर गद्दी पर लेटे-लेटे दूसरों की सम्पत्ति को अपहरण करने की तरकीब सोचने वाले तिकड़मी व्यक्ति स्वामी बने रौब दिखा रहे हैं । इस तरह की बातें वर्तमान समय में बहुत बढ़ गई हैं और इनके कारण लोगों के हृदय में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि ये आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, पाप-पुण्य की बातें बिल्कुल निरर्थक हैं और मनुष्य को एक मात्र स्वार्थ साधन पर ही दृष्टि रखनी चाहिए । इसी प्रकार भावना के कारण मनुष्य और भी अनेक प्रकार के भ्रमों में पड़कर अनुचित कार्य करने लग जाता है, अपने दोष को न समझकर उसकी जिम्मेदारी दूसरों के सिर मढ़ने लगता है ।

इस हानिकर परिस्थिति से बचने के लिए हमको कर्म-रहस्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि किस प्रकार हमारे शुभाशुभ कार्यों का प्रभाव हमारी अन्तरात्मा अथवा अन्तर्मन पर पड़ता रहता है और वह कभी तो तुरन्त और कभी बहुत समय बाद फल रूप में प्रकट होता है । जब हम सुख-दुख देने वाले कर्मों की विवेचना करते हैं तो वे तीन प्रकार के सिद्ध होते हैं-संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण । सुख तो मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति है । सुकर्म करना स्वभाव है इसलिए सुख प्राप्त होना भी स्वाभाविक ही है । कष्ट दुःख में होता है । दुःख से ही लोग डरते, घबराते हैं, उसी से छुटकारा पाना चाहते हैं । इसलिए दुःखों का ही विवेचन यहाँ होना उचित है । आरोग्यवर्द्धक शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र दो अलग-अलग शास्त्र हैं । इसी प्रकार सुख-दुःख के भी दो अलग-अलग शास्त्र हैं । सुख वृद्धि के लिए धर्माचरण करना चाहिए, जैसे कि स्वास्थ्य वृद्धि के लिए पौष्टिक पदार्थों का सेवन किया जाता है । दुःख निवृत्ति के लिए, रोग का निवारण करने के लिए उसका निदान और चिकित्सा जानने की आवश्यकता है । कर्म की गहन गति की जानकारी प्राप्त करने से दुःखों का मर्म समझ में आ जाता है । दुःखों

के कारण को छोड़ देने से सहज ही दुःखों की निवृत्ति हो जाती है ।

दुःख तीन प्रकार के होते हैं । (१) दैविक (२) दैहिक (३) भौतिक । दैविक दुःख वे कहे जाते हैं जो मन को होते हैं । जैसे-चिन्ता, आशंका, क्रोध, अपमान, शत्रुता, विछोह, भय, शोक आदि । दैहिक दुःख वे होते हैं जो शरीर को होते हैं । जैसे-रोग, चोट, आघात, विष आदि के प्रभाव से होने वाले कष्ट । भौतिक दुःख वे हैं जो अचानक अदृश्य प्रकार से आते हैं । जैसे-भूकम्प, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, महामारी, युद्ध आदि । इन्हीं तीन प्रकार के दुःखों की वेदना से मनुष्यों को तड़पता हुआ देखा जाता है । यह तीनों दुःख हमारे शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कर्मों के फल हैं । मानसिक पापों के परिणाम से दैविक्क दुःख आते हैं, शारीरिक पापों के फलस्वरूप दैहिक और सामाजिक पापों के कारण भौतिक दुःख उत्पन्न होते हैं ।

दैविक दुःख-मानसिक कष्ट उत्पन्न होने का कारण वे मानसिक पाप हैं जो स्वेच्छा पूर्वक तीव्र भावनाओं से प्रेरित होकर किये जाते हैं । जैसे-ईर्ष्या, कृतघ्नता, छल, दम्भ, घमण्ड, क्रूरता, स्वार्थपरता आदि इन कुविचारों के कारण जो वातावरण मस्तिष्क में घुटता रहता है उससे अन्तःचेतना पर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है, जिस प्रकार धुएँ के कारण दीवाल काली पड़ जाती है या तेल से भीगने पर कपड़ा गन्दा हो जाता है । आत्मा स्वभावतः पवित्र है वह अपने ऊपर इन पाप मूलक कुविचारों प्रभावों को जमा हुआ नहीं रहने देना चाहती, वह इस फिक्र में रहती है कि किस प्रकार गन्दगी को साफ करूँ ? पेट में हानिकारक वस्तुओं के जमा हो जाने पर उसे कै या दस्त के रूप में निकाल बाहर करता है । इसी प्रकार तीव्र इच्छा से, जानबूझ कर किए गये पापों को निकाल बाहर करने के लिए आत्मा आतुर हो उठती है । हम उसे जरा भी जान नहीं पाते किन्तु आत्मा भीतर ही भीतर उस पाप भार को हटाने के लिए अत्यंत व्याकुल हो जाती है । बाहरी मन स्थूल बुद्धि को उस अदृश्य प्रक्रिया का कुछ भी पता नहीं लगता, पर अन्तर्मन चुपके ही चुपके ऐसे अवसर एकत्रित करने में लगा रहता है जिससे वह भार हट जाय । अपमान, असफलता, विछोह, शोक, दुःख आदि होने के अवसरों को वह कहीं से एक न एक दिन, किसी प्रकार खींच ही लाता है ताकि उन दुर्भावनाओं का, पाप संस्कारों का इन अप्रिय परिस्थितियों में समाधान हो जाय ।

शरीर द्वारा किये हुए चोरी, डकैती, व्यभिचार, अपहरण, हिंसा आदि में मन ही प्रमुख है । हत्या करने में हाथ का कोई स्वार्थ नहीं है, वरन् मन के आदेश की पूर्ति है । इसलिए इस प्रकार के कार्य जिनके करते समय इन्द्रियों को सुख न पहुँचता हो, मानसिक पाप कहलाते हैं । ऐसे पापों का फल मानसिक दुःख होता है । स्त्री–पुत्र आदि प्रियजनों की मृत्यु, धन नाश, लोक निन्दा, अपमान, पराजय, असफलता, दरिद्रता आदि मानसिक दुःख हैं, उनसे मनुष्य की मानसिक वेदना उखड़ पड़ती है, शोक–सन्ताप उत्पन्न होता है, दुःखी होकर रोता–चिल्लाता है, आँसू बहाता है, सिर धुनता है । इससे वैराग्य के भाव उत्पन्न होते हैं और भविष्य में अधर्म न करने एवं धर्म में प्रवृत्त रहने की प्रवृत्ति बढ़ती है । देखा गया है कि मरघट में स्वजनों की चिता रचते हुए ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं कि जीवन का सदुपयोग करना चाहिए । धन नाश होने पर मनुष्य भगवान को पुकारता है । पराजित और असफल व्यक्ति का घमण्ड चूर हो जाता है । नशा उतर जाने पर वह होश की बात करता है, मानसिक दुःखों का एक मात्र उद्देश्य मन में जमे हुए ईर्ष्या, कृतघ्नता, स्वार्थपरता, क्रूरता, निर्दयता, छल, दम्भ, घमण्ड आदि की सफाई करना होता है । दुःख इसलिए आते हैं कि आत्मा के ऊपर जमा हुआ प्रारब्ध कर्मों का पाप संस्कार निकल जाय । पीड़ा और वेदना की धारा उन पूर्वकृत प्रारब्ध कर्मों के निकृष्ट संस्कारों को बोने के लिए प्रकट होती है ।

दैविक–मानसिक कष्टों का कारण समझ लेने के उपरान्त अब दैहिक–शारीरिक कष्टों का कारण समझना चाहिए । जन्मजात अपूर्णता एवं पैतृक रोगों का कारण पूर्व जन्म में उन अंगों का दुरुपयोग करना है । मरने के बाद सूक्ष्म शरीर रह जाता है । नवीन शरीर की रचना इस सूक्ष्म शरीर द्वारा होती है । इस जन्म में जिस अंग का दुरुपयोग किया जा रहा है, वह अंग सूक्ष्म शरीर में बहुत दुर्बल हो जाता है । जैसे कोई व्यक्ति अति मैथुन करता हो तो सूक्ष्म शरीर का वह अंग निर्बल होने लगेगा, फलस्वरूप सम्भव है कि वह अगले जन्म में नपुंसक हो जाय । यह केवल कठोर दण्ड ही नहीं वरन् सुधार का एक उत्तम तरीका भी है । कुछ समय तक उस अंग को विश्राम मिलने से आगे के लिए वह सचेत और सूक्ष्म हो जायेगा । शरीर के अन्य अंगों के शारीरिक लाभ के लिए

पापपूर्ण, अमर्यादित, अपव्यय करने पर आगे के जन्म में वे अंग जन्म से ही निर्बल या नष्ट प्रायः होते हैं । शरीर और मन के सम्मिलित पापों के शोधन के लिए जन्मजात रोग मिलते हैं या बालक अंग–भंग उत्पन्न होते हैं । अंग–'भंग या निर्बल उत्पन्न होने से उस अंग को अधिक काम नहीं करना पड़ता इसलिए सूक्ष्म शरीर का वह अंग विश्राम पाकर अगले जन्म के लिए फिर तरोताजा हो जाता है साथ ही मानसिक दुःख मिलने से वह मन का पाप भार भी धुल जाता है ।

मानसिक पाप भी जिस शारीरिक पाप के साथ घुला–मिला होता है, वह यदि राजदण्ड समाज दण्ड या प्रायश्चित द्वारा इस जन्म में शोधित न हुआ हो तो उसका शोधन शीघ्र ही शारीरिक प्रकृति द्वारा हो जाता है । जैसे नशा पिया, उन्माद आया । विष खाया, मृत्यु हुई । आहार–विहार में गड़बड़ी की, बीमार पड़े । इस तरह शरीर अपने साधारण दोषों की सफाई जल्दी–जल्दी कर लेता है और इस जन्म का भुगतान इसी जन्म में कर जाता है । परन्तु गम्भीर शारीरिक दुर्गुण, जिनमें मानसिक जुड़ाव भी होता है, अगले जन्म में फल प्राप्त करने के लिए सूक्ष्म शरीर के साथ जाते हैं ।

भौतिक कष्टों का कारण हमारे सामाजिक पाप हैं । संपूर्ण मनुष्य जाति एक ही सूत्र में बँधी हुई है । विश्व व्यापी जीव तत्त्व एक है । आत्मा सर्वव्यापी है । जैसे एक स्थान पर यज्ञ करने से अन्य स्थानों का भी वायुमण्डल शुद्ध होता है और एक स्थान पर दुर्गन्ध फैलने से उसका प्रभाव अन्य स्थानों पर भी पड़ता है । इसी प्रकार एक मनुष्य के कुत्सित कर्मों के लिए दूसरा भी जिम्मेदार है । एक दुष्ट व्यक्ति अपने माता–पिता को भी लज्जित करता है, अपने घर और कुटुम्ब को शर्मिन्दा करता है । वे इसलिए शर्मिन्दा होते हैं कि उस व्यक्ति के कामों से उनका कर्तव्य भी बँधा हुआ है । अपने पुत्र, कुटुम्बी या घर वाले को सुशिक्षित, सदाचारी न बना कर दुष्ट क्यों हो जाने दिया ? इसकी आध्यात्मिक जिम्मेदारी कुटुम्बियों की भी है । कानून द्वारा अपराधी को ही सजा मिलेगी, परन्तु कुटुम्बियों की आत्मा स्वयमेव शर्मिन्दा होंगी, क्योंकि उनकी गुप्त मनःशक्ति यह स्वीकार करती है कि हम भी किसी हद तक इस मामले में अपराधी हैं । सारा समाज एक सूत्र में बँधा होने के कारण आपस में एक–दूसरे की हीनता के लिए जिम्मेदार हैं । पड़ौसी का घर जलता रहे और दूसरा पड़ौसी खड़ा–खड़ा

तमाशा देखे, तो कुछ देर बाद उसका भी घर जल सकता है । मुहल्ले के एक घर में हैजा फैले और दूसरे लोग उसे रोकने की चिन्ता न करें तो उन्हें भी हैजे का शिकार होना पड़ेगा । कोई व्यक्ति किसी की चोरी, बलात्कार, हत्या, लूट आदि होती हुई देखता रहे और सामर्थ्य होते हुए भी उसे रोकने का प्रयत्न न करे, तो समाज उससे घृणा करेगा एवं कानून के अनुसार वह भी दण्डनीय समझा जायगा ।

ईश्वरीय नियम है कि हर मनुष्य स्वयं सदाचारी जीवन बिताये और दूसरों को अनीति पर न चलने देने के लिए भरसक प्रयत्न करे । यदि कोई देश या जाति अपने तुच्छ स्वार्थों में संलग्न होकर दूसरों के कुकर्मों को रोकने और सदाचार बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करती तो उसे भी दूसरों का पाप लगता है । उसी सामूहिकता के सामूहिक पाप से सामूहिक दण्ड मिलता है । भूकम्प, अति वृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारी, महायुद्ध के कारण ऐसे ही सामूहिक दुष्कर्म होते हैं, जिनमें स्वार्थपरता को प्रधानता दी जाती है और परोपकार की उपेक्षा की जाती है ।

देखा जाता है कि अन्याय करने वाले अमीरों की अपेक्षा मूक पशु की तरह जीवन बिताने वाले भोले-भाले लोगों पर दैवी प्रकोप अधिक होते हैं । अतिवृष्टि, अनावृष्टि का कष्ट गरीब किसानों को ही अधिक सहन करना पड़ता है । इसका कारण यह है कि अन्याय करने वाले से अन्याय सहन करने वाला कम पापी नहीं होता । कहते हैं कि "बुजदिल जालिम का बाप होता है ।" कायरता में यह गुण है कि वह अपने ऊपर जुल्म करने के लिए किसी न किसी को न्यौत बुलाती है । भेड़ की ऊन एक गड़रिया छोड़ देगा तो दूसरा कोई न कोई उसे काट लेगा । कायरता, कमजोरी, अविद्या स्वयं बड़े भारी पातक हैं । ऐसे पातकियों पर यदि भौतिक कोप अधिक हों तो कुछ आश्चर्य नहीं । सम्भव है कि उनकी कायरता को दूर करने एवं स्वाभाविक सतेजता जगाकर निष्पाप बना देने के लिए अदृश्य सत्ता द्वारा यह घटनाएँ उपस्थित होती हों । यह भौतिक दुर्घटनाएँ सृष्टि के दोष नहीं हैं वरन् अपने ही दोष हैं । अग्नि में तपाकर सोने की तरह हमें शुद्ध करने के लिए यह कष्ट बार-बार कृपापूर्वक आया करते हैं और संसार को जोरदार चेतावनियाँ देकर सामाजिक निष्पापता बढ़ाने का आदेश दिया करते हैं ।

कर्म और उनसे होने वाले परिणाम

यदि हम अपने दिन भर के कार्मों का निरीक्षण करें तो उन्हें तीन श्रेणियों में बाँट देना पड़ेगा । कुछ तो ऐसे होते हैं जो बिना जानकारी में होते हैं जैसे बुरे लोगों के मुहल्ले में या सत्संग में रहने से उनका प्रभाव किसी न किसी अंश में गुप्त रूप से अपने ऊपर पड़ जाता है । यह प्रभाव पड़ा तो परन्तु हमने उसे इच्छा पूर्वक स्वीकार नहीं किया इसलिए वह हल्का, निर्बल एवं कम प्रभाव वाला होकर हमारी भीतरी चेतना के एक कोने में पड़ा रहा । ऐसे हीन वीर्य संस्कार बनाने वाले संचित कर्म कहे जाते हैं । जो कार्य विवशता में, दबाये जाने पर करने पड़ें, पर मन की आन्तरिक इच्छा यही रही कि यदि विवशता न होती तो इस काम को मैं कदापि न करता । इस तरह लाचारी से जो काम करने पड़ें और मन जिनके विरुद्ध विद्रोह करता रहे एवं उस कार्य को स्वभाव बनाकर अपना नहीं लिया हो तो उस कार्य का संस्कार भी हल्का, अल्प वीर्य और कम प्रभाव वाला होता है । ऐसे काम भी संचित कर्म की ही श्रेणी में आते हैं । इन संचित कर्मों के संस्कार बहुत कमजोर एवं हलके होते हैं इसलिए वे मनोभूमि के किसी अज्ञात कोने में सिमटे हुए हजारों वर्ष तक पड़े रहते हैं । यदि उन्हें प्रकट होने का कोई अच्छा अवसर न मिले तो यों ही दबे-दबाये पड़े रहते हैं । किन्तु यदि उसी प्रकार के बुरे कर्म कभी जानबूझकर स्वेच्छा से, विशेष मनोयोग के साथ किये गये तो वे सड़े-गले संचित संस्कार भी कुलबुलाने लगते हैं । जिस प्रकार घुना हुआ बीज भी अच्छी भूमि और अच्छी वर्षा पाकर उग आता है वैसे ही संचित संस्कार भी अपनी जाति के बलवान कर्मों की सहायता पाकर उग आते हैं । परन्तु यदि उन संचित संस्कारों को लगातार विपरीत स्वभाव के बलवान कर्म संस्कारों के साथ रहना पड़े तो वे नष्ट भी हो जाते हैं । गर्म जगह में रखा हुआ एक घड़ा पानी गर्मी के प्रभाव से आखिर एक महीने में सूख ही जाता है, इसी प्रकार उत्तम कर्मों के संस्कार जमा हो रहे हों तो वे बेचारे बुरे संस्कार उनकी गर्मी में जल कर नष्ट हो जाते हैं । धर्म ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि तीर्थयात्रा आदि अमुक शुभ धर्म कार्य करने से पूर्व जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं । असल में वह संकेत इन अल्पवीर्य वाले संचित संस्कारों के सम्बन्ध में ही है । भले और बुरे दोनों ही प्रकार के संचित कर्म संस्कार अनुकूल परिस्थिति पाकर फलदायक होते हैं एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में नष्ट भी हो जाते हैं ।

प्रारब्ध–वे मानसिक कर्म होते हैं जो स्वेच्छापूर्वक, जानबूझकर, तीव्र भावनाओं से प्रेरित होकर किये जाते हैं । इन कार्यों को विशेष मनोयोग के साथ किया जाता है इसलिए उनका संस्कार भी बहुत बलवान होता है । हत्या, खून, डकैती, विश्वासघात, चोरी, व्यभिचार जैसे प्रचण्ड क्रूर कर्मों की प्रतिक्रिया अन्तःकरण में बहुत ही तीव्र होती है । उस विजातीय द्रव्य को बाहर निकाल देने के लिए आध्यात्मिक पवित्रता निरन्तर व्यग्र बनी रहती है और एक न एक दिन उसे निकाल कर बाहर कर ही देती है ।

हम बता चुके हैं कि हमारी अन्तःचेतना निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह हमारे हर काम को देखती रहती है और उसकी न्यूनता–अधिकता के परिणाम के अनुसार दण्ड की व्यवस्था करती रहती है । चूँकि मानसिक दण्ड अपने आप, अन्दर ही अन्दर पूरा नहीं हो सकता, इसके लिए दूसरे साधनों की भी आवश्यकता होती है, दण्ड कार्य को पूरा करने के लिए सूक्ष्म लोक में से उसी प्रकार का घटना–क्रम उपस्थित करने के लिए हमारी अन्तःचेतना एक वातावरण तैयार करती है । इस तैयारी में कभी–कभी बहुत समय लग जाता है । जैसे छल स्वभाव के निवारण के लिए शोक रूपी दण्ड की आवश्यकता है । अब यह देखा जायगा कि छल किस दर्जे का है, उसकी शुद्धि किस दर्जे के शोक से पूरा हो सकती है । अन्तःचेतना वैसी ही परिस्थितियाँ पैदा करने में भीतर ही भीतर लगी रहेगी । वह शरीर में ऐसे तत्व पैदा करेगी जिससे पुत्र उत्पन्न हो, उस पुत्र शरीर में ऐसी आत्मा का मेल मिलावेगी जिसे उसके कर्मों के अनुसार दस वर्ष ही जीना पर्याप्त हो, दस वर्ष का पुत्र हो जाने पर वही हमारी गुप्त प्रेरणा गुप्त रूप से पुत्र पर पिल पड़ेगी और उसे रोगी करके मार डालेगी एवं शोक का इच्छित अवसर पैदा कर देगी । ऐसे अवसर तैयार करने में केवल अपना ही कार्य अकेला नहीं होता वरन् दूसरे पक्ष का भी कार्य होता है । दोनों ओर की चेतनाएँ अपने–अपने लिए अवसर तलाश करती फिरती हैं और फिर जब उन्हें इच्छित जोड़ मिल जाता है तो एक घटना की भूमिका बँध जाती है । ऐसे कार्यों में कई बार एक, दो या कई जन्मों का समय लग जाता है ।

पाठक समझ गये होंगे कि मानसिक पापों का फल किस प्रकार मिलता है और उसमें विलम्ब हो जाने का क्या कारण है ? दैनिक

आपत्तियाँ क्रमपूर्वक, व्यवस्था के साथ आती हैं, पर लोग उन्हें दैव का प्रकोप, ईश्वर की इच्छा, संसार दुःखमय है आदि कहकर अपने मन का सन्तोष करते हैं । यथार्थ में ईश्वर किसी के लिए भी दुःख, शोक, उपस्थित नहीं करता, न उसकी किसी को कष्ट में डालने की इच्छा है और न यह संसार ही दुःखमय है । मकड़ी अपने आप अपना जाला बुनती है और उसमें खुद ही फँसती, उलझती, लटकती रहती है । मन को अशुभ, अधर्मी, पापी बनाकर हम अपने लिए दुःख, द्वन्दों के काँटे खुद ही बोते हैं और जब वे चुभते हैं तो रोते–चिल्लाते हैं तथा दूसरों को दोष देते फिरते हैं । यहाँ एक बात और भी स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि प्रारब्ध–फल आकस्मिक तरीके से मिलेगा जैसे रोग से मृत्यु, मकान गिर पड़ना, धन खो जाना, गिर पड़ने से चोट लगना, अंग–भंग हो जाना आदि । दूसरे व्यक्तियों द्वारा जानबूझ कर ऐसे कर्म नहीं किये जाते क्योंकि उसमें दो बुराइयाँ हैं–एक तो अपकार करने वाले व्यक्ति के लिए क्षोभ उत्पन्न होने से वे दुर्गुण और बढ़ेंगे जिससे मन की उद्विग्नता और अधिक बढ़ जायगी, दूसरे अपकार करने वाले व्यक्ति को भी उसी चक्र में फँसना पड़ेगा । जानबूझकर व्यक्तियों द्वारा जो काम किए जा रहे हैं वे नवीन कर्म हैं और अनायास, आकस्मिक ढंग से जो कष्ट आ पड़ते हैं वे प्रारब्ध के भोग हैं ।

क्रियमाण कर्म शारीरिक हैं जिनका फल प्रायः साथ का साथ ही मिलता रहता है । नशा पिया कि उन्माद आया । विष खाया कि मृत्यु हुई । शरीर जड़ तत्वों का बना हुआ है । भौतिक तत्व स्थूलता प्रधान होते हैं । उनमें तुरन्त ही बदला मिलता है । अग्नि के छूते ही हाथ जल जाता है । नियम विरुद्ध आहार–विहार करने पर रोगी पर पीड़ा का, निर्बलता का, अविलम्ब आक्रमण हो जाता है और उसकी शुद्धि भी शीघ्र हो जाती है । मजदूर परिश्रम करता है बदले में उसे पैसे मिल जाते हैं । जिन शारीरिक कर्मों के पीछे कोई मानसिक गुत्थी नहीं होती केवल शरीर के लिए ही किए जाते हैं वे क्रियमाण कहलाते हैं । पाठक समझ गये होंगे कि संचित कर्मों का फल मिलना संदिग्ध है, यदि अवसर मिलता है तो वे फलवान होते हैं नहीं तो विरोधी परिस्थितियों से टकरा कर नष्ट हो जाते हैं । प्रारब्ध कर्मों का फल मिलना निश्चित है परन्तु उसके

अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने में कुछ समय लग जाता है । यह समय कितने दिन का होता है, इस संबंध में कुछ नियत मर्यादा नहीं है, वह आज का आज भी हो सकता है और कुछ जन्मों के अन्तर से भी हो सकता है । किन्तु प्रारब्ध फल होते वही हैं जो अचानक घटित हों और जिसमें मनुष्य का कुछ वश न चले । पुरुषार्थ की अवहेलना से जो असफलता मिलती है उसे कदापि प्रारब्ध फल नहीं कहा जा सकता । क्रियमाण तो प्रत्यक्ष हैं ही उनके बारे में ऊपर बता ही दिया गया है कि निश्चित फल वाले, शारीरिक फल वाले शारीरिक कर्म क्रियमाण हुआ करते हैं । इनका फल मिलने में अधिक समय नहीं लगता ।

कष्टों का स्वरूप अप्रिय है, उनका तात्कालिक अनुभव कड़वा होता है, अन्ततः वे जीव के लिए कल्याणकारी और आनन्ददायक ही सिद्ध होते हैं । उनसे दुर्गुणों के शोधन और सद्गुणों की वृद्धि में असाधारण सहायता मिलती है । आनन्द स्वरूप, आत्म प्रकाश मय जीवन और सुखमय संसार के कष्टों का थोड़ा स्वाद परिवर्तन इसलिए लगाया गया है कि प्रगति में बाधा न पड़ने पावे । थोड़ा-सा कष्ट भी जीवन की सुख वृद्धि के लिए आवश्यक है । संसार में जो-जो कष्ट हैं वे स्वाभाविक ही हैं । किन्तु स्मरण रखिये जितना भी थोड़ा-बहुत दुःख है वह हमारे अन्याय का, अधर्म का, अनर्थ का फल है । आत्मा दुःख रूप नहीं है, जीवन दुःखमय नहीं है और न इस संसार में ही दुःख है ।

आप दुःखों से डरिये मत । घबराइये मत, काँपिये मत, उन्हें देखकर चिन्तित या व्याकुल मत होइए, वरन् उन्हें सहन करने को तैयार रहिए । कटुभाषी किन्तु सच्चे सहृदय मित्र की तरह भुजा पसार कर मिलिए । वह कटु शब्द बोलता है, अप्रिय समालोचना करता है, तो भी जब जाता है तो बहुत-सा माल-खजाना उपहार स्वरूप दे जाता है । बहादुर सिपाही की तरह सीना खोलकर खड़े हो जाइये और कहिए कि 'ऐ आने वाले दुःखो ! आओ !! ऐ मेरे बालको चले आओ !! मैंने ही तुम्हें उत्पन्न किया है । मैं ही तुम्हें अपनी छाती से लगाऊँगा । दुराचारिणी वेश्या की तरह तुम्हें जार पुत्र समझकर छिपाना या भगाना नहीं चाहता वरन् सती साध्वी के धर्म पुत्र की तरह तुम मेरे अंचल में सहर्ष क्रीड़ा करो । मैं कायर नहीं हूँ, जो तुम्हें देखकर रोऊँ, मैं नपुंसक नहीं हूँ, जो

तुम्हारा भार उठानें में गिड़गिड़ाऊँ, मैं मिथ्याचारी नहीं हूँ, जो अपने किए हुए कर्मों का फल भोगने से मुँह छिपाता फिरूँ । मैं सत्य हूँ, शिव हूँ, सुन्दर हूँ । आओ मेरे अज्ञान के कुरूप मानस पुत्रो ! चले आओ ! मेरी कुटी में तुम्हारे लिए स्थान है । मैं शूरवीर हूँ, इसलिए हे कष्टो ! तुम्हें स्वीकार करने से मुँह नहीं छिपाता और न तुमसे बचने के लिए किसी की सहायता चाहता हूँ । तुम मेरे साहस की परीक्षा लेने आये हो, मैं तैयार हूँ, देखो गिड़गिड़ाता नहीं हूँ, साहस पूर्वक तुम्हें स्वीकार करने के लिए छाती खोले खड़ा हूँ ।"

खबरदार ! ऐसा मत कहना कि 'यह संसार बुरा है, दुष्ट है, पापी है, दुःखमय है ।' ईश्वर की पुण्य-कृति जिसके कण-कण में उसने कारीगरी भर दी है, कदापि बुरी नही हो सकती । सृष्टि पर दोषारोपण करना तो उसके कर्त्ता पर आक्षेप करना होगा । "यह घड़ा बहुत बुरा बना है ।" इसका अर्थ है कुम्हार को नालायक बताना । आपका पिता इतना नालायक नहीं है जितना कि आप, 'दुनियाँ दुःखमय है, यह शब्द कह कर उसकी प्रतिष्ठा पर लांछन लगाते हैं ।" ईश्वर की पुण्य भूमि में दुःख का एक अणु भी नहीं है । हमारा अज्ञान ही हमारे लिए दुःख है ।

मनुष्य अपना निर्माता स्वयं है

शास्त्र का मत है कि संसार तो एक निष्प्राण वस्तु है । इसे हम जैसा बनाना चाहते हैं वैसा ही यह बन जाता है । जीव चैतन्य और कर्त्ता है, संसार पदार्थ है और जड़ है । चैतन्य कर्त्ता में यह योग्यता होनी चाहिए कि वह जड़ पदार्थ का अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार उपयोग कर सके । कुम्हार के सामने मिट्टी रखी हुई है, वह उससे घड़ा भी बना सकता है और दीपक भी । त्रिगुणमयी प्रकृति में दोनों पहलू मौजूद हैं-एक भला, दूसरा-बुरा । एक काला, दूसरा सफेद । एक धर्म, दूसरा अधर्म । इनमें से चुनाव करने की पूरी आजादी आपकी है । दुनियाँ का असली रूप तो पहले ही बताया जा चुका है, पर वह तो शास्त्रीय व्याख्या है । व्यावहारिक दृष्टि से हर एक व्यक्ति की अपनी एक अलग दुनियाँ है । एक व्यक्ति चोर है तो उसे सर्वत्र चोरी की ही चर्चा करने को मिलेगी । इसी प्रकार व्यभिचारी व्यक्ति को सभी स्त्रियाँ

व्यभिचारिणी, कुमार्ग गामिनी दिखलाई पड़ेंगी । एक ही व्यक्ति कई लोगों को कई प्रकार का दिखाई पड़ता है । माता उसे स्नेह भाजन मानती है, पिता आज्ञाकारी पुत्र मानता है, स्त्री प्राणवल्लभ मानती है, पुत्र उसे पिता समझता है । इस प्रकार आप देखेंगे कि उस एक ही व्यक्ति के संबंध में यह सब सम्बन्धी कैसी-कैसी विचित्र कल्पना किये हुए हैं, जो एक-दूसरे से बिल्कुल नहीं मिलतीं । जिसे उससे जितना एवं जैसा काम पड़ता है वह उसके सम्बन्ध में वैसी ही कल्पना कर लेता है । तमाशा तो यह है वह मनुष्य स्वयं भी अपने बारे में एक ऐसी ही कल्पना किए हुए है । मैं वैश्य हूँ, लखपति हूँ, वृद्ध हूँ, पुत्र रहित हूँ, कुरूप हूँ, गण्यमान्य हूँ, दुःखी हूँ, बुरे लोगों से घिरा हुआ हूँ आदि नाना प्रकार की कल्पनायें कर लेता है और उस कल्पना लोक में जीवन भर विचरण करता रहता है । जैसे दूसरे लोग उसके बारे में अपने मतलब की कल्पना कर लेते हैं, वैसे ही मन भी अपने बारे में इन्द्रियों की अनुभूति के आधार पर अपने सम्बन्ध में एक लँगड़ी-लूली कल्पना कर लेता है और उसी कल्पना में लोग नशेबाज की तरह उड़ते रहते हैं । "मैं क्या हूँ ?" इस मर्म को यदि वह किसी दिन समझ पावे तो मालूम हो कि मैंने अपने बारे में कितनी गलत धारणा बना रखी थी ।

मनुष्यों को नाना प्रकार के दुःखों में रोते हुए और नाना सुखों में इतराते हुए हम देखते हैं । "दुनियाँ बहुत बुरी है, जमाना बड़ा खराब है, ईमानदारी का युग चला गया, चारों ओर बेईमानी छाई हुई है, सब लोग धोखेबाज हैं, धर्म-धरती पर से उठ गया"-ऐसी उक्तियाँ जो आदमी बार-बार दुहराता है समझ लीजिए कि यह खुद धोखेबाज और बेईमान है । इसकी इच्छित वस्तुएँ इसके चारों ओर इकट्ठी हो गई हैं और उनकी सहायता से सुव्यवस्थित कल्पना चित्र इसके मन पर अंकित हो गया है । जो व्यक्ति यह कहा करता है कि दुनियाँ में कुछ काम नहीं, बेकारी का बाजार गर्म है, उद्योग-धन्धे उठ गये, अच्छे काम मिलते ही नहीं, समझ लीजिए कि इसकी अयोग्यता इसके चेहरे पर छाई हुई है और जहाँ जाता है वहाँ के दर्पण में अपना मुख देख आता है । जिसे दुनियाँ स्वार्थी, कपटी, दंभी, दुःखमय, कलुषित, दुर्गुणी, असभ्य दिखाई पड़ती है, समझ लीजिए कि इसके अन्तर में इन्हीं अवगुणों का बाहुल्य है । दुनियाँ

एक लम्बा-चौड़ा बहुत बढ़िया बिल्लौरी काँच का चमकदार दर्पण है, इसमें अपना मुँह हूबहू दिखाई पड़ता है । जो व्यक्ति जैसा है इसके लिए त्रिगुणमयी सृष्टि में से वैसे ही तत्व निकल कर आगे आ जाते हैं ।

क्रोधी मनुष्य जहाँ जायगा, कोई न कोई लड़ने वाला उसे मिल ही जायगा, घृणा करने वाले को कोई न कोई घृणित वस्तु मिल ही जायगी । अन्यायी मनुष्य को सब लोग बड़े बेहूदे, असभ्य और दण्ड देने योग्य दिखाई पड़ते हैं । होता यह है कि अपनी मनोभावनाओं को मनुष्य अपने सामने वालों पर थोप देता है और उन्हें वैसा ही समझता है जैसा कि वह स्वयं है । साधुओं को असाध्वी स्त्रियों से पाला नहीं पड़ता, विद्याभ्यासियों को सद्ज्ञान मिल ही जाता है, जिज्ञासुओं की ज्ञान पिपासा पूरी होती है, सतयुगी आत्माएँ हर युग में रहती हैं और उनके आस-पास सदैव सतयुग बरसता रहता है ।

हमारा यह कहने का तात्पर्य कभी नहीं है कि दुनियाँ दूध से धुली हुई है और आप अपने दृष्टि-दोष से ही उसे बुरा समझ बैठे हैं । यह बार-बार कहा जा चुका है कि दुनियाँ त्रिगुणमयी है । हर वस्तु तीन गुणों से बनी हुई है । उसमें आपसे छोटे दर्जे के बच्चे भी पढ़ते हैं, आपकी समकक्षा में पढ़ने वाले भी हैं और वे भी हैं जो आपसे बहुत आगे हैं । तीनों ही किस्म के लोग यहाँ हैं । सतोगुणी वे विद्यार्थी हैं, जो आपसे ऊँची कक्षा में हैं, रजोगुणी वे हैं जो समकक्षा में पढ़ रहे हैं और तमोगुणी पिछली कक्षा वाले को कह सकते हैं । तात्पर्य यह है कि परम पद पाने से पूर्व हर एक प्राणी अपूर्ण है, उसमें नीच स्वभाव कुछ न कुछ रहेगा ही ।

हमारे अनुभव में ऐसे अनेकों प्रसंग आये हैं, जब हमें दो विरोधियों में समझौता कराना पड़ा है । दो शत्रुओं को मित्र बनाना पड़ा है । दोनों में विरोध किस प्रकार आरम्भ हुआ इसका गंभीर अनुसंधान करने पर पता चला कि वास्तविक कारण बहुत ही स्वल्प था, पीछे दोनों पक्ष अपनी-अपनी कल्पनाएँ बढ़ाते गये और बात का बतंगड़ बन गया । यदि एक-दूसरे को समझने की कोशिश करें, दोनों अपने-अपने भाव एक-दूसरे पर प्रकट कर दें और एक-दूसरे की इच्छा, स्वभाव, मनोभूमि का उदारता से अध्ययन करें तो जितने आपसी तनाव और झगड़े दिखाई पड़ते हैं उनका निन्यानवे प्रतिशत भाग कम हो जाय और सौ भाग में से

एक भाग ही रह जावे । क्लेश–कलह के वास्तविक कारण इतने कम हैं कि उनका स्थान आटे में नमक के बराबर स्वाद परिवर्तन जितना ही रह जाता है । मिर्च बहुत कड़ुई है और उसका खाना सहन नहीं होता पर स्वल्प मात्रा तो रुचिकर होती है ।

हर उन्नत आत्मा का कर्तव्य है कि आत्म विकास के लिए दूसरों की उन्नति का भी प्रयत्न करे । गिरे हुओं को बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करे । समाज में तमोगुण उबलते रहेंगे उनसे डरने या घबराने की जरूरत नहीं है । आत्मोन्नति चाहने वाली आत्मा का कर्तव्य है कि उन उत्पातों में सुधार करते हुए अपनी भुजाएँ मजबूत बनायें । दुष्टता को बढ़ने न देना, पाशविक तत्वों को मनुष्य तत्व में न घुलने देने का प्रयत्न करते रहना आवश्यक है । चतुर हलवाई दूध को मक्खियों से बचाता रहता है ताकि दूध अशुद्ध न हो जाय । कर्मकौशल यह कहता है कि समाज में पाप वृत्तियों को बढ़ने से रोकना चाहिए । इस विरोध कर्म में बड़ी होशियारी की जरूरत है । यही तलवार की धार है, इस पर चलना सचमुच योग कहा जायगा ।

बुराइयों से भरे हुए इस विश्व में आपका कार्य क्या होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान सूर्यनारायण हमें देते हैं । वे प्रकाश फैलाते हैं, अन्धेरा अपने आप भाग जाता है, बादल मेह बरसाते हैं, ग्रीष्म का ताप अपने आप ठण्डा हो जाता है, हम भोजन खाते हैं, भूख अपने आप बुझ जाती है, स्वास्थ्य के नियमों की साधना करते हैं दुर्बलता अपने आप दूर हो जाती है, ज्ञान प्राप्त करते हैं, अज्ञान अपने आप दूर हो जाता है । सीधा रास्ता यह है कि संसार में से बुराइयों को हटाने के लिए अच्छाइयों का प्रसार करना चाहिए । अधर्म को मिटाने के लिए धर्म का प्रचार करना चाहिए ।

आप सरल मार्ग को अपनाइए, लड़ने, बड़बड़ाने और कुढ़ने की नीति छोड़कर दान, सुधार, स्नेह के मार्ग का अवलम्बन लीजिए । एक आचार्य का कहना है कि "प्रेम भरी बात कठोर लात से बढ़कर है ।" हर एक मनुष्य अपने अन्दर कम या अधिक अंशों में सात्विकता को धारण किए रहता है । आप उसकी सात्विकता को स्पर्श करिए और उसकी सुप्तता में जागरण उत्पन्न कीजिए । जिस व्यक्ति में जितने सात्विक अंश

हैं उन्हें समझिए और उसी के अनुसार उन्हें बढ़ाने का का प्रयत्न कीजिए । अन्धेरे में मत लड़िए वरन् प्रकाश फैलाइये । अधर्म बढ़ता हुआ दीखता हो तो निराश मत होइए वरन् धर्म प्रचार का प्रयत्न कीजिए । बुराई के मिटाने का यही एक तरीका है कि अच्छाई को बढ़ाया जाय ।

हो सकता है कि लोग आपको दुःख दें, आपका तिरस्कार करें, आपके महत्व को न समझें, आपको मूर्ख गिनें और विरोधी बनकर मार्ग में अकारण कठिनाइयाँ उपस्थित करें, पर इसकी तनिक भी चिन्ता मत कीजिए और जरा भी विचलित मत होइए । क्योंकि इनकी संख्या बिल्कुल नगण्य होगी । सौ–आदमी आपके प्रयत्न का लाभ उठायेंगे तो दो–चार विरोधी भी होंगे । यह विरोध आपके लिए ईश्वरीय प्रसाद की तरह होगा ताकि आत्मनिरीक्षण का, भूल सुधार का अवसर मिले और संघर्ष से जो शक्ति आती है उसे प्राप्त करते हुए तेजी से आगे बढ़ते रहें ।

आप समझ गये होंगे कि संसार असार है, इसलिए वैराग्य के योग्य है, पर आत्मोन्नति के लिए कर्तव्य धर्म पालन करने में यह वैराग्य बाधक नहीं होता । सच तो यह है कि वैराग्य को अपनाकर ही हम विकास के पथ पर तीव्र गति से बढ़ सकते हैं । संसार को दुःखमय मानना एक भारी भूल है । यह सुखमय है । यदि संसार में सुख न होता तो स्वतंत्र, शुद्ध, बुद्ध, और आनन्दी आत्मा इसमें आने के लिए कदापि तैयार न होती । दुःख और कुछ नहीं, सुख के अभाव का नाम है । राजमार्ग पर चलना छोड़कर कँटीली झाड़ियों में भटकना दुःख है । दुःख, विरोध, बैर, क्लेश, कलह का अधिकांश भाग काल्पनिक होता है, दूसरे लोग सचमुच उतने बुरे नहीं होते, जितने कि हम समझते हैं । यदि हम अपने मस्तिष्क को शुद्ध कर डालें, आँखों पर से रंगीन चश्मा उतार फेकें तो संसार का सच्चा स्वरूप दिखाई देने लगेगा । यह दर्पण के समान है । भले के लिए भला और बुरे के लिए बुरा । जैसे ही हमारी दृष्टि भलाई देखने और स्नेह पूर्ण सुधार करने की हो जाती है वैसे ही सारा संसार अपना प्रेम हमारे ऊपर उड़ेल देता है । अन्तरिक्ष लोक से मुक्त आत्माओं का अविरल प्रेम–रस फुहारे की तरह झरने लगता है । जैसे ठण्डा चश्मा लगा लेने पर ज्येष्ठ की जलती दोपहरी शीतल हो जाती है वैसे ही सुख की भावना करते ही विश्व का एक–एक कण अपनी सुख शान्ति का

भाग हमारे ऊपर छोड़ता चला जाता है । गुबरीले कीड़े के लिए विष्ठा के और हंस के लिए मोतियों के खजाने इस संसार में भली प्रकार भरे हुए हैं । आपके लिए वही वस्तुएँ तैयार हैं जिन्हें आप चाहते हैं । संसार को दुःखमय, पापी, अन्यायी मानते हैं तो वह 'मनसा भूत' की तरह उसी रूप में सामने आता है । जब सुखमय मान लेते हैं तो मस्त फकीर की तरह रूखी रोटी खाकर बादशाही आनन्द लूटते हैं । सचमुच दुःख और पाप का कुछ अंश दुनियाँ में है पर वह दुःख सहन करने योग्य है, सुख की महत्ता बढ़ाने वाला है, जो पाप है वह आत्मोन्नति की प्रधान साधना है । यदि परीक्षा की व्यवस्था न हो तो विद्वान और मूर्ख में कुछ अन्तर ही न रहे ।

पाठकों को उपरोक्त पंक्तियों से यह जानने में सहायता हुई होगी कि सृष्टि जड़ होने के कारण हमारे लिए सुख-दुःख का कारण नहीं कही जा सकती । यह दर्पण के समान है जिससे हर व्यक्ति अपना कुरूप या सुन्दर मुख जैसे का तैसा देख सकता है । 'संसार कल्पित है ।' दर्शनशास्त्र की इस उक्ति के अन्तर्गत यही मर्म छिपा हुआ है कि हर व्यक्ति अपनी कल्पना के अनुसार संसार को समझता है । कई अन्धों ने एक हाथी को छुआ । जिसने पूँछ छुई थी वह हाथी को साँप-सा बताने लगा, पैर पकड़ा उसे खम्भे जैसा जँचा, जिसने पेट पकड़ा उसे पर्वत के समान प्रतीत हुआ । संसार भी ऐसा ही है । इसका रूप अपने निकटवर्ती स्थान को देखकर निर्धारित किया जाता है । आप अपने आस-पास पवित्रता, प्रेम, भ्रातृभाव, उदारता, स्नेह, दया, गुण दर्शन का वातावरण तैयार कर लें, अपनी दृष्टि को गुणग्राही बना लें तो हम शपथपूर्वक कह सकते हैं कि आपको यही संसार नन्दन वन की तरह, स्वर्ग के उच्च सोपान की तरह आनन्ददायक बन जायगा । भले ही पड़ौसी लोग अपनी बुरी और दुःखदायी कल्पना के अनुसार इसे बुरा और कष्टप्रद समझते रहें ।

दुख का कारण पाप ही नहीं है

आमतौर से दुःख को नापसन्द किया जाता है । लोग समझते हैं कि पाप के फलस्वरूप अथवा ईश्वरीय कोप के कारण दुःख आते हैं, परन्तु यह बात पूर्ण रूप से सत्य नहीं है । दुःखों का एक कारण पाप भी है, यह तो ठीक है परन्तु यह ठीक नहीं कि समस्त दुःख पापों के कारण ही आते हैं ।

बहुत बार ऐसा होता है कि ईश्वर की कृपा के कारण, पूर्व संचित पुण्यों के कारण और पुण्य संचय की तपश्चर्या के कारण भी दुःख आते हैं। भगवान को किसी प्राणी पर दया करके उसे अपनी शरण लेना होता है, कल्याण के पथ की ओर ले जाना होता है तो उसे भवबन्धन से, कुप्रवृत्तियों से छुड़ाने के लिए ऐसे दुःखदायक अवसर उत्पन्न करते हैं जिनकी ठोकर खाकर मनुष्य अपनी भूल को समझ जाय, निद्रा को छोड़कर सावधान हो जाय।

सांसारिक मोह, ममता और विषय वासना का चस्का ऐसा लुभावना होता है कि उन्हें साधारण इच्छा होने से छोड़ा नहीं जा सकता। एक हलका-सा विचार आता है कि जीवन जैसी अमूल्य वस्तु का उपयोग किसी श्रेष्ठ काम में करना चाहिए, परन्तु दूसरे ही क्षण ऐसी लुभावनी परिस्थितियाँ सामने आ जाती हैं, जिनके कारण वह हलका विचार उड़ जाता है और मनुष्य जहाँ का तहाँ उसी तुच्छ परिस्थिति में पड़ा रहता है। इस प्रकार की कीचड़ में से निकालने के लिए भगवान अपने भक्त में झटका मारते हैं, सोते हुए को जगाने के लिए बड़े जोर से झकझोरते हैं। यह झटका और झकझोरा हमें दुःख जैसा प्रतीत होता है।

मृत्यु के समीप तक ले जाने वाली बीमारी, परमप्रिय स्वजनों की मृत्यु, असाधारण घाटा, दुर्घटना, विश्वसनीय मित्रों द्वारा अपमान या विश्वासघात जैसी दिल को चोट पहुँचाने वाली घटनाएँ इसलिए भी आती हैं कि उनके जबरदस्त झटके के आघात से मनुष्य तिलमिला जाय और सजग होकर अपनी भूल सुधार लें। गलत रास्ते को छोड़कर सही मार्ग पर आ जायें।

धर्म-कर्म करने में, कर्तव्य धर्म का पालन करने में असाधारण कष्ट सहना पड़ता है। अभावों का सामना करना होता है। इसके अतिरिक्त दुष्टात्मा लोग अपने पाप पूर्ण स्वार्थों पर आघात होता देखकर उस धर्म सेवा के विरुद्ध हो जाते हैं और नाना प्रकार की यातनाएँ देते हैं, इस प्रकार के कष्ट सत्पुरुषों को पग-पग पर झेलने पड़ते हैं। यह पुण्य संचय की तपश्चर्या के अपनी सत्यता की परीक्षा देकर स्वर्ण समान चमकाने वाले दुःख हैं।

निस्सन्देह कुछ दुःख पापों के परिणाम स्वरूप भी होते हैं परन्तु यह

भी निश्चित है कि भगवान की कृपा से, पूर्व संचित शुभ संस्कारों से और धर्म सेवा की तपश्चर्या से भी वे आते हैं । इसी प्रकार जब अपने ऊपर कोई विपत्ति आवे तो केवल यह ही न सोचना चाहिए कि हम पापी हैं, अभागे हैं, ईश्वर के कोप भाजन हैं । संभव है वह कष्ट हमारे लिए किसी हित के लिए ही आया हो, उस कष्ट की तह में शायद कोई ऐसा लाभ छिपा हो जिसे हमारा अल्पज्ञ मस्तिष्क आज ठीक–ठीक रूप से न पहचान सके ।

दूसरे लोग अनीति और अत्याचार करके किसी निर्दोष व्यक्ति को सता सकते हैं । शोषण, उत्पीड़न और अन्याय का शिकार होकर कोई व्यक्ति दुःख पा सकता है । अत्याचारी को भविष्य में उसका दण्ड मिलेगा पर इस समय तो निर्दोष को ही कष्ट सहना पड़ा । ऐसी घटनाओं में उस दुःख पाने वाले व्यक्ति के कष्टों को कर्मों का फल नहीं कहा जा सकता ।

हर मौज मारने वाले को पूर्व जन्म का धर्मात्मा और हर कठिनाई में पड़े हुए व्यक्ति को पूर्व जन्म का पापी कह देना उचित नहीं । ऐसी मान्यता अनुचित एवं भ्रमपूर्ण है । इस भ्रम के आधार पर कोई व्यक्ति अपने को बुरा समझे, आत्म–ग्लानि करे, अपने को नीच या निन्दित समझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं है । कर्म की गति गहन है उसे हम ठीक प्रकार नहीं जानते केवल परमात्मा ही जानता है ।

मनुष्य का कर्तव्य है कि सुख–दुख का ध्यान किए बिना सदैव अपने उत्तरदायित्व का पालन करे और सद्मार्ग पर चलता रहे । कार्य में सफलता मिलती है या असफलता, प्रशंसा होती है या तिरस्कार प्राप्त होता है, लाभ में रहते हैं या घाटे में, इन सब बातों के कारण अपने कर्तव्य का त्याग करना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जगत में ईश्वरीय न्याय सर्वत्र काम कर रहा है । हम अपने छोटी बुद्धि से उसे समझें चाहे न समझें, वह जल्दी प्रकट हो या देर से आये, पर हमारे कर्मों का सच्चा फल हमको अवश्य प्राप्त होगा । इसलिए हमको किसी भी अवस्था में ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करना उचित नहीं ।

◉

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा